

आयुर्वेद के आठ अंग या अष्टाङ्ग आयुर्वेद

सभी प्राणियों की सर्वप्रथम कामना सुखमय और दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनके नियम के बिना उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य के पालन नहीं किए जा सकते हैं। आयुर्वेद स्वास्थ्य रक्षक और रोग मुक्ति का शास्त्र है। यह सुखमय दीर्घ जीवन प्रदाता शास्त्र है। जीवन रूपी वृक्ष जब पूर्णतः स्वस्थ और रोगमुक्त होता है तभी उसमें उत्तम फूल और फल लगते हैं। अतः यह आवश्यक है कि जीवन को आरोग्यमय, दीर्घायु-सम्पन्न तथा शरीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्त रखा जाए। आरोग्यमय, दीर्घायु सम्पन्न जीवन की प्राप्ति के लिए आयुर्वेद को ब्रह्मा ने आठ अंगों में विभक्त कर दिया है-

1. शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र 5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

4.1 शल्यतन्त्र (Surgery and Midwifery)

विविध प्रकार के शल्यों को निकालने की विधि एवं अग्नि, क्षार, यन्त्र, शस्त्र, आदि के प्रयोग से सम्पादित चिकित्सा को शल्यचिकित्सा कहते हैं। किसी वण में से तृण के हिस्से, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े, धूल, लोहे के खण्ड, हड्डी, बाल, नाखून, शल्य, अशुद्ध, रक्त, पूय मृतभ्रूण आदि को निकालना तथा यन्त्रों एवं शस्त्रों के प्रयोग एवं व्रणों के निदान तथा उसकी चिकित्सा आदि का समावेश शल्यतन्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

"शल्यनाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपाशुलोहलोष्ठस्थिवालनखपूयासाव द्रष्ट्वाणांतर्गर्भशल्योद्वरणार्थं यंत्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधान्द्राण। विनिश्चयार्थं च। (सु.सू. 1.1)

शल्यतन्त्र का प्रधानता:- आयुर्वेद के अष्टाङ्गों में इसकी प्रधानता के साथ-साथ यह प्रथम स्थान पर गिना जाता है। यज्ञ के कटे हुए सिर को धड़ के साथ जोड़ देने और देवता और दानवों के युद्ध में प्रहार युक्त व्रणों के रोपण करने के कारण शल्य को ही अष्टाङ्ग का प्रथम अंग माना जाता है। आयुर्वेद के सभी अंग समान रूपेण आवश्यक हैं, परन्तु यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के द्वारा शल्यक्रिया करने से शीघ्र फलदायी होने के कारण 'शल्य' सभी अंगों में श्रेष्ठता को प्राप्त है। जिस प्रकार विद्रधि एवं अर्श आदि रोगों को औषधियों के सेवन से भी ठीक किया जा सकता है, परन्तु औषधि के सेवन के द्वारा समय अधिक लगता है, जबकि शल्यक्रिया के द्वारा रोग को कम समय में ठीक किया जा सकता है।

सुश्रुत संहिता के टीकाकार डल्हण कहते हैं कि-

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।

यत्किञ्चदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्।

(सु.सू. 1/8 पर डल्हण की टीका)

अर्थात् केवल तृण, काष्ठ, धातु आदि ही शल्य नहीं हैं बल्कि शरीर में बाधा उत्पन्न करने वाला मल, दोष आदि भी शल्य कहे जाते हैं अतः शल्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर से है। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक शल्य अन्य आयुर्वेद के अंगों की तुलना में अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित है। आधुनिक सर्जरी शल्य का ही रूप है। शल्य का वैदिक वाङ्मय में स्थानः-ऋग्वेद में भी शल्य के अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। उस समय के देववैद्य अश्विनीकुमारों के चमत्कारिक कार्यों से तत्कालीन शल्यतन्त्र की विकसित स्थिति का पता चलता है। सन्धाकर्म (Plastic Surgery) और अंगप्रत्यारोपण (Transplantation) का काम अश्विनीकुमारों ने किया था। रवेल राजा की पत्नी विश्पला की यंग युद्ध में काट दिए जाने पर उसे लोहे की जाँघ लगा कर जोड़ दिया गया था। उपनिषदों की मधुविद्या सन्धान कर्म भी जिसे अश्विनीकुमारों ने दधीचि से प्राप्त किया था। 'प्रग्वर्य विद्या' कटे सिर को जोड़ने की विद्या कहलाती थी। इसी विद्या द्वारा अश्विनी कुमारों ने दधीचि ऋषि के सिर को धड़ से अलग करके उसकी जगह घोड़े के सिर को उसके सिर पर लगाया था और पुनः मनुष्य का सिर जोड़ दिया था। यह वेदों में उल्लिखित है। इससे अंग संरक्षण और प्रत्यारोपण का संकेत प्राप्त होता है।

जैमिनीय ब्राह्मण का एक आख्यान प्रसिद्ध है कि किसी कुमार का शरीर रथ चक्र से छिन्न हो गया था, उसको ठीक करके अश्विनी कुमारों ने पुनर्जीवित किया गया। वाल्मीकिरामायण में (बाल का० 49/6-10) में इन्द्र के अण्डकोष के गिर जाने पर भेड के अण्डकोष के प्रत्यारोपण का आख्यान है। जैमिनीय ब्राह्मण में भी यह आख्यान वर्णित है। महाभारत में भी उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणको विदाः' (भीष्मपर्व 120/55) अर्थात् शल्यनिकालने में दक्ष वैद्यों का निर्देश किया गया है। गुप्तकाल की शल्यविद्या भी उन्नत थी।

शल्यतन्त्र के ग्रन्थः- शल्यतन्त्र का आकार ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता' है। इसमें व्रणागार व्यवस्था, व्रणों के प्रकार, व्रणों की चिकित्सा के साथ उपक्रम, दग्ध, आठ प्रकार के शस्त्रकर्म, उपयोगी यन्त्रशास्त्र, जलौका, क्षार-कर्म व अग्निकर्म, सिरावेध आदि को विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है। अर्श, अश्मरी (पत्थरी) और भगन्दर आदि में शस्त्र प्राणिधान का विधान वर्णित है। कान, नाक, और ओष्ठ के कटने पर उसके सन्धान की विधि को भी विस्तृत रूप से बताया है। यह सन्धान कर्म सुश्रुत की ही मौलिक देन है। आधुनिक सर्जरी के विकास का आधार भी सुश्रुत संहिता ही है। प्राचीन ग्रन्थों में शल्य में सुश्रुतसंहिता का महत्वपूर्ण स्थान है। शल्यतन्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में से अधिकतर आज उपलब्ध नहीं हैं, जिनके उद्धरण हमें दूसरे ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। सुश्रुत को ही आधार बनाकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जो इस प्रकार हैं।

शल्यतन्त्र के वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ

1. शल्यतन्त्रसमुच्चयः-इ से पं० वामदेवमिश्र ने 1929 में स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। ये पटना राजकीय आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक थे। इसमें मुख्य रूप से सुश्रुत के विषय संकलित किये गए हैं। अष्टयङ्गसंग्रह के इसमें कुल 50 अध्याय हैं। चरक, संहिता, सुश्रुत संहिता माधवनिदान, प्रत्यक्षशारीरम और नेत्र शारीरम् आदि ग्रन्थ मिश्र जी को कण्ठस्थ थे।
2. सौश्रुतीः- रमानाथ द्विवेदी कृत सौश्रुती अधिक प्रचलित है। इसका प्रकाशन 1968 वें सं. में चौखम्भा से हुआ।
3. शल्यसमन्वयः-यह दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। यह अनन्तरामशर्मा के द्वारा लिखित है। यह हरिद्वार से 1963-1965 में प्रकाशित हुआ।
4. शल्यप्रदीपिकाः-मुकुन्दस्वरूप कृत है और वाराणसी से प्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त शल्यचिकित्सा के वरदान, सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद शल्यतन्त्र में रोगी परीक्षा, भग्नचिकित्सा, आधुनिक शल्यचिकित्सा के सिद्धान्त, शल्यविज्ञान, क्लीनिकल शल्य विज्ञान आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं।

प्राचीन काल में काशी शल्यतन्त्र का प्रधान केन्द्र रही है। दिवोदास धन्वन्तरि ने यहीं सुश्रुत आदि शिष्यों की शल्य की चिकित्सा दी थी। शल्यतन्त्र की तक्षशिला में भी उत्तम शिक्षण व्यवस्था थी। सम्भवतः राजाओं की सेना में भी शल्यचिकित्सक रहते होंगे। भारतीय शल्य की क्रिया अरब होते हुए भूमध्यसागरवर्ती देशों में पहुंची।

4.2 शालाक्यतन्त्र

(Cophthalmology Including ENT and Dentistry)

गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका सदृश यन्त्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शालाक्य कहते हैं। शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यं, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम्। सु.सू. 1.8। इसके अन्तर्गत प्रधानतः मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण आदि अंगों में उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा आती है।

शालाक्यं नाम ऊर्ध्वजननन्तुगतानां प्रवण नयन वदन धाणादि संश्रितानां

व्याधीनामुपशमनार्थम्। (सु.सू. 1/2)

आधुनिक चिकित्सा में शालाक्य में समाविष्ट अंगों में कान, नाक, गला का एक विभाग माना गया है। आँख और दन्त दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र विभाग है। अश्विनीकुमारों द्वारा किए गए शालाक्यसम्बन्धी अनेक चमत्कार ऋग्वेद में वर्णित है। कतिपय द्रष्टव्य है। जैसे-अन्धे ऋध्जाश्व को दृष्टिदान, अन्धे कण्व को दृष्टि दान, बहरे नार्षद

को ऋवणशक्ति दान आदि। अश्विनीकुमारों ने युद्ध में आहत सैनिकों को स्वस्थ बनाकर पुनः संग्रामयोग्य बना दिया था। इससे अनुमान होता है कि वैदिक काल में सैन्यचिकित्सा विज्ञान समुन्नत था। अथर्ववेद, कौशिकसूत्र, रामायण, महाभारत आदि में इसकी सामग्री प्रचुरता से देखी जाती हैं। शालाक्यतन्त्र के द्वारा पशुचिकित्सा करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

ग्रंथ:- सुश्रुतसंहिता ही शालाक्यतन्त्र का प्रमुख ग्रंथ है। इसके उत्तरतन्त्र में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

नेत्ररोग- अध्याय 1 से 19 तक

कर्णरोग- अध्याय 20 और 21 में

नासिका रोग- अध्याय 22 से 24 तक

शिरोरोग - अध्याय 25 और 26 में

शालाक्य सम्प्रदाय में अनेक आचार्य हुए। जिन्होंने अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा को चलाया। इन परम्पराओं में सबकी अपनी-अपनी मौलिक विशेषता थी। ब्राह्मण' ग्रन्थों में चक्षु सम्बन्धी और कर्ण सम्बन्धी परम्पराओं का वर्णन मिलता है। कौशिकसूत्र (30/1-2) में नेत्ररोग के लिए भैषज्य विधान की चर्चा की गई है। सुश्रुत में नेत्र शरीर का सूक्ष्म अध्ययन करके उसके विभिन्न अवयवों के विकारों और उनके निवारण का उपाय बतलाया गया है। विकारों के उपाय के लिए सेक, विद्यालक, लेप, नेत्र पूरण, अञ्जन, वर्ति आदि का प्रयोग किया जाता था। नेत्र रोगों को रोकने के उपाय भी बताये गए हैं। नाक, कान, काण्ठ मुख आदि के रोगों के निदान और चिकित्सा का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना होता था। नेत्र रोगों के लिए अनेक अञ्जन और वर्तियाँ निकाली गईं। काशी यदि शल्य का केन्द्र रहा है तो मिथिला शालाक्य तन्त्र का केन्द्र था। आधुनिक चिकित्सा के प्रवेश के साथ आयुर्वेद के महाविद्यालयों में 'शालाक्य' के विशेष अध्ययन के साथ नेत्र आदि चिकित्सा एवं शस्त्रकर्म करने की ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। पटना आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पं. वामदेव मिश्र और उनके शिष्यों ने नेत्ररोगों की आयुर्वेदीय औषधियों द्वारा निदान किया और उसमें वे सफल भी हुए। यदि औषधियों का सही ढंग से निर्माण हो और विभिन्न नेत्ररोगों पर उनका प्रयोग हो तो आयुर्वेदीय नेत्रचिकित्सा गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सकती है। मोतियाबिन्द से बचने के लिए बहुत से अञ्जन हैं। यदि उनका नित्य प्रयोग किया जाए, मोतियाबिन्द में लाभदायक होता है। यथा- मुक्ताञ्जनु, तुजिनाञ्जन आदि।

ग्रन्थ:- शालाक्यतन्त्र में विदेहतन्त्र, निमित्तन्त्र, शौनकतन्त्र, करालतन्त्र, सात्यकितन्त्र, कांकायनतन्त्र आदि ऐसे ग्रन्थ हैं। जिनके यत्र-तत्र उद्धरण ही प्राप्त होते हैं। आधुनिक काल में उपलब्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं- शालाक्यतन्त्र, शालाक्यविज्ञान, नेत्ररोगविज्ञान, नेत्रचिकित्सा, नेत्रचिकित्सा विज्ञान, नेत्र विज्ञान, शालाक्य शास्त्र आदि। इनमें से शालाक्यतन्त्र पाठ्य ग्रन्थ है।

4.3 कायचिकित्सातन्त्र (General Medicine)

कायचिकित्सा को आयुर्वेद के सभी अंगों में प्रमुख स्थान प्राप्त है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक जो सम्मान और प्रतिष्ठा आयुर्वेदीय कायचिकित्सा से प्राप्त हुई है, वह अन्य किसी अङ्ग से नहीं प्राप्त हो सकी है। 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन वाङ्मय है, उसमें भी अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के अनेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण दृष्टव्य हैं। च्यवन और वन्दन ऋषि जो जीर्ण शीर्ण थे। उनकी अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा की और यौवन प्रदान किया। कक्षीवती की पुत्री 'घोषा' को कुष्ठरोग से मुक्ति दिलाई। सूर्यरश्मि द्वारा हृदय रोग की चिकित्सा का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। 'अपाला' का चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजेपन को भी अश्विनीकुमारों ने दूर किया। कुष्ठरोग से कृष्ण वर्ण शरीर वाले 'श्याव' का कुष्ठ दूर किया। यजुर्वेद में भी अनेक रोगों का वर्णन प्राप्त होता है। यथा- अर्शरोग, श्लीपद, कुष्ठ, चर्मरोग, यक्ष्मा, विशूचिका, श्वयथु (शोथ), श्लेष्मा और मुखपाक आदि। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। ऋग्वेद में जो तथ्य सूत्ररूप में संकेतित हुए हैं उनका अथर्ववेद में विशद वर्णन किया गया है। इसमें अनेक रोगों के वर्णन के साथ-साथ उनके निदान को भी बताया गया है। वैदिककालीन चिकित्सा से पूर्व दैवव्यापाश्रय चिकित्सा की प्रधानता थी। रोग देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के प्रकोप के कारण माने जाते थे। उनको प्रसन्न करने के लिए बलि, उपहार, होम, जप पूजा आदि की जाती थी। वन-जातियों में आजकल भी ज्वर आदि रोगों को भूतजनित माना जाता है और उसकी चिकित्सा बलि चढ़ाकर, झाड़फूंक और हवन करके की जाती है। अभिमन्त्रित जल के सेवन से, मन्त्रों के प्रयोग से और धूपन आदि ग्रामीण लोगों में चिकित्सा की पद्धति आज भी देखने को मिलती है। आयुर्वेद के 'दैवव्यापाश्रय चिकित्सा' में इसका समावेश है। रोगी के भय को दूर करके उसमें आत्मविश्वास की उत्पत्ति के लिए, उसके मनोबल में वृद्धि के लिए इन उपचारों को किया जाता था। रोगी के मन को अहितकर विषयों से रोकने को 'सत्त्वावजय चिकित्सा' कहा गया है।

'युक्तिव्यापाश्रय' चिकित्सा की तीसरी प्रक्रिया को आयुर्वेदीय संहिताओं के निर्माण काल में अपनाया गया। इसमें रोगी की प्रकृति, दोषावस्था, देश काल, बल, शरीर-सात्म्य (हितकर) मन की स्थिति आदि पर विचार किया जाता था। रोगी की अलग-अलग स्थिति के अनुसार औषधि का प्रबन्ध किया जाने लगा। वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों का विस्तृत वर्णन है और इसके 63 भेद बताये हैं। चरक ने कहा है- "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता" अर्थात् दोष वैषम्य रोग और दोष साम्य आरोग्य हैं। शरीर को इस प्रकार परिभाषित किया है-

"दोषधातुमलं मूलं हि शरीरम्"

(दोष धातु-मल का संगठन शरीर है)

स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को यथावत् बनाए रखने के लिए आयुर्वेद में कुछ बातों को आवश्यक बताया है। जैसे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम सदाचार, आहार-विहार आदि। इनके नियमों का सावधानी से पालन करने को बताया है। अतः चरकसूत्र में कहा है- 'नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी

कृत्येष्ववहितो भवेत्'। (च.सू. 5/103) इसका आशय यह है कि जिस प्रकार राजा अपनी अन्तः ब्राह्म्य स्थितियों को संभाल कर राज्य का पालन सावधानी से करता है उसी प्रकार अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये। कायचिकित्सा की परिभाषा:- इसमें सामान्यरूप से औषधि प्रयोग से चिकित्सा की जाती है। प्रधानतः ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्प्रमेह, अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा इसके अन्तर्गत आती है। सुश्रुत ने इसकी परिभाषा सुश्रुत संहिता के 1.3 में इस प्रकार की है- 'कायचिकित्सा नाम सर्वांगसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादिनामुपशमनार्थम्।'

काय-चिकित्सा की शब्दिक व्युत्पत्ति:-'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा'। काय का अर्थ हैं - सम्पूर्ण शरीर, अतः सम्पूर्ण शरीर के रोगों की चिकित्सा 'कायचिकित्सा' है। काय + चिकित्सा इन दो शब्दों के योग से 'कायचिकित्सा' शब्द बना है। अतः काय और चिकित्सा इन दो शब्दों के अलग-अलग अर्थ को जानकर ही हम काय चिकित्सा के यथार्थ अर्थ को जान सकते हैं। काय के अनेक अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं- काय शब्द का अर्थ:- 'कायति शब्दायते इति कायः' जो शब्द करे उसे काय कहते हैं। कान को अंगुली से बन्द करने पर एक ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि शरीर के जीवित होने का चिह्न है। हृदय की गति का नियमन करना ही कायचिकित्सा है। किसी भी रोग के हो जाने पर हृदय की गति को यथावत् संचलित करना परम आवश्यक है। काय का दूसरा अर्थ शरीर या देह है। चीयतेऽन्नादिभिः इति कायः 'जिसका अन्नादि आहार से पोषण हो, उसे काय कहते हैं। इस प्रकार के शरीर की चिकित्सा काय है काय का तीसरा अर्थ जठराग्नि है। जीवित प्राणियों की जठराग्नि को काय कहते हैं यह मधुकोष टीका में उद्धृत भोज का वचन है। शरीर में 13 प्रकार की अग्नियां होती हैं - एक जठराग्नि, सात धात्वाग्नि और पञ्च महाभूताग्नि। इन सबमें जठराग्नि प्रमुख है। अतः जठराग्नि के विकृत को जाने पर उसको प्राकृतिक स्थिति में लाने के लिए किए गए उपचारों को 'कायचिकित्सा' कहा जाता है और जो वैद्य इसका उपचार करता है, उसे 'कायचिकित्सक' कहते हैं-

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥

जिस मनुष्य की जठराग्नि ठीक रहती है। उसको कोई रोग नहीं होता और वह दीर्घायु को प्राप्त करता है। इस जठराग्नि की प्रतिष्ठा के कारण ही उसकी चिकित्सा के अंग कायचिकित्सा का आठों अंगों में प्रधान स्थान प्राप्त है। चिकित्सा:- चिकित्सा शब्द 'कित् रोगापनयने' धातु से बना है। अपनयन का अर्थ होता है दूर करना। रोग के अपनयन को चिकित्सा कहते हैं। वैद्यकशब्दसिन्धु में कहा है- 'या क्रिया व्याधिहरणी या चिकित्सा निगद्यते' (जो क्रिया व्याधि को दूर करने के लिए की जाती है, वह चिकित्सा है) चिकित्सा की परिभाषा:-ये चारों वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर, धातु विषमता होने पर, धातु विषमता को दूर करने और धातु समानता की स्थिति लाने के लिए प्रवृत्त होते हैं वह प्रवृत्ति ही चिकित्सा कहलाती है-

चतुर्णा भिषगादीनां शस्तानां धातु वैकृते।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥

च०सू० 9.15

चिकित्सा के सिद्धान्त :-

1. जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उन कारणों का त्याग करना चाहिए।
2. बढ़े हुए दोषों को घटना चाहिए, क्षीण हुए दोषों को बढ़ाना चाहिए और समान दोषों को समान बनाए रखने का प्रयत्न कर
4. रोग के अनुसार जहाँ उपयुक्त हो वहाँ संशोधन, संशमन विधिपूर्वक करना चाहिए।
5. मानसिक रोगों में ज्ञान, विज्ञान, धैर्यस्मृति एवं चित्त की एकाग्रता आदि की प्रक्रिया अपना कर चिकित्सा करनी चाहिए। कायचिकित्सा के संहिता-ग्रन्थ:-कायचिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता हैं। इसके अतिरिक्त भेलसंहिता, जतूकर्णसंहिता, क्षारपाणिसंहिता, हारीत-संहिता आदि ग्रन्थ हैं। इनमें चरक संहिता ही अपने पूर्ण रूप में प्राप्त होता है।

44 भूतविद्यातन्त्र (Psycho-therapy)

आयुर्वेद में इस अंग को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसी कारण इसका कोई स्वतन्त्र प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है।

परिभाषा:- इसमें देवता, पिशाच, पितृ तथा ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। रोगों को दूर करने के लिए बलिकर्म, उपहारकर्म और पूजाकर्म के द्वारा रोग शान्ति की चिकित्सा 'भूतविद्या' या भूतचिकित्सा कही जाती है।

भूतविद्यानाम् देवासुरगंधर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचानागग्रहधुपसृष्ट-चेतसां

शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्॥ (सु.सू. 1/4)

सुश्रुत के अनुसार भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का आयुर्वेद में विशद् वर्णन है। ये सभी रोग तथा मानसरोग आदि भूतविद्या के अन्तर्गत हैं-

उन्मादः प्रतिषेधश्च तथाऽपस्मारिको गदः।

अमानुषनिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते।।

अथर्ववेद भूतविद्या से सम्बन्धित विषय भरपूर है ऋषि, देवता, गुरु, भूतप्रेत, पिशाच, राक्षस, रेवती आदि ग्रहों को तिरस्कृत करने पर उन्माद, अपस्मार आदि मानसरोग और अनेक शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इन रोगों की मुक्ति के लिए देवता, राक्षस या ग्रह आदि के अनुरूप बलि पूजा, होम एवं जाप आदि करने का विधान है। भूतविद्या के विषय संहिताग्रन्थों में बीजरूप में प्राप्त होते हैं। यथा- सुश्रुतसंहिता में उत्तरतन्त्र अमानुषप्रतिषेधाध्याय, चरक संहिता में उन्माद चिकित्सा और वाग्भट में भूतविज्ञानीय एवं भूतप्रतिषेधाध्याय।

आधारभूत सिद्धान्त

वैदिक काल से लेकर आज तक भूतविद्या का इतिहास प्राप्त होता है। अधिकांशतः ग्रामीण एवं वनेचर लोग भूत-प्रेत के आक्रमण से त्रस्त देखे जाते हैं, पुरोहित, ओझा, क्षोखा लोगों द्वारा उनकी चिकित्सा कर दी जाती है और वे स्वस्थ हो जाते हैं।

भूतविद्या की विशेषता

यह एक रहस्यात्मक विद्या है, सारे विश्व में इसकी सत्यता के उदाहरण देखे जा सकते हैं। आयुर्वेद सभी प्रकार के ज्ञान का भंडार है। आर्तजन की पीडा को दूर करना इसका प्रधान लक्ष्य है। जैसे तो सभी रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, लेकिन भूतविद्या सम्बन्धी रोगों में प्रमुख कारण अदृष्ट होते हैं। 'काश्यपसंहिता' के रेवतीकल्प में भूतविद्या का प्रसंग विस्तारपूर्वक वर्णित है। मनुष्य जब अपने उदात्त कर्तव्यों से विमुख होकर अनाचार और दुराचार के मार्ग पर चलता है, तब उसको ग्रह पकड़ते हैं और उसकी धर्म के मार्ग पर चलना मजबूरी हो जाती है। उसे जीवन धारण करने की क्षमता धर्म ही देता है। अपने अध्यात्मज्ञान से आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने यह जान लिया कि जब मनुष्य का मन सत्त्वगुण को त्यागकर रज और तमों गुणों में लिप्त होता है तब वह धर्म के मार्ग को छोड़ देता है। वह अधर्म के मार्ग पर चलता है अधर्म का आचरण करने से प्रकृति में विपरीत स्थिति आ जाती है, ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। वायु, जल, देश, और काल अपने स्वाभाविक गुण का त्याग कर देते हैं। परिणामस्वरूप खेती में भी समुचित गुणों का आधान नहीं हो पाता। मानव को न तो पोषक तत्व, न शुद्ध वायु या जल ही मिल पाते हैं। जीवन में जब अन्न धन आदि की कमी होती है तो सम्पन्न लोग संचय करने लगते हैं। अभावग्रस्त लोगों के मन में उस संचित अन्न धनादि के प्रति ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न होने लगता है और वे घुटन का जीवन जीने लगते हैं। काम, क्रोध, असूया, और मत्सर के कारण विवेक क्षमता नष्ट हो जाती है। मानव मोह, मद, प्रज्ञापराध और मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त होकर मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। वह कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान से रहित होकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। जब मानव का मनोबल हीन हो जाता

है तो वह अपनी मनःस्थिति को नहीं संभाल पाता तो वह विवेकहीन क्रियायें करना प्रारम्भ कर देता है। वह उन्मत्त होकर इधर-उधर घूमने लगता है यही उन्माद भूतविद्या का एक प्रकट उग्र स्वरूप है। इसी प्रकार रजतो और तमोगुणों की अधिकता के कारण मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

आयुर्वेदाचार्यों ने भूतविद्या' को मानस विकार माना है। आयुर्वेद में भूतविद्या में जहाँ देवता पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि से आक्रान्त व्यक्ति को मुक्त करने लिए शान्तिकर्म और होमादि का नियम है वहीं मन को स्थिर, शान्त, निर्भय और निर्विकार बनाने के लिए ज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि, पवित्रता, संतोष और ईश्वर की आराधना बताई गई है। जब मन सात्त्विक अभिलाषाओं की भूमि बन जाता है तब उसमें सद्विचारों के सुन्दर फूल खिलते हैं। भूतविद्या का प्रधान विषय है- मन की स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके मन के विकारों को दूर करने का मार्ग बताकर मन से आतंक का हयना। ग्रन्थः-भूतविद्या का कुछ ग्रन्थों में संकेत प्राप्त होता है जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, माधवनिदान, मानसरोग विज्ञान आदि।

4.5 कौमारभृत्यतन्त्र (Pediatrics)

इसको बाल चिकित्सा भी कहते हैं। इसका अर्थ है- बालकों का भरण-पोषण और उनके रोगों की चिकित्सा। इसे Science of Paediatrics कहते हैं। 'काश्यपसंहिता' में आयुर्वेद के आठ अंगों में इसे श्रेष्ठ माना गया है। वस्तुतः शिशु ही सम्पूर्ण विश्व का आधार है। अतः उसका महत्त्व उचित ही है। इसमें बच्चों, स्त्रियों विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस अंग में है।

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्॥
सु.सू. 1/5

बालक आयु के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं-

1. क्षीरप (दूध पीने वाले)
2. क्षीरान्नाद (दूध और अन्न खाने वाले)
3. अन्नाद (केवल अन्न पर निर्भर रहने वाले)

बालक के जन्म लेते ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों का विधान है। उनकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है। बालरोगों के प्रकरण में भिन्न-भिन्न ग्रहों का विस्तृत वर्णन है। इन ग्रहों के वर्णन के साथ इनके उपचार का भी वर्णन चरकसंहिता में गर्भिणी स्त्री के साथ-साथ शिशु के पश्चात् उत्पन्न विकारों की

व्यवस्था के बारे में विशद विवेचन है। बालक के जन्म काल में और बाद में क्या-क्या करना चाहिए। रोगों से बालक की रक्षा करने के लिए वर्णन है।

ग्रन्थ:- चरक संहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्यङ्गहृदय, बालचिकित्सामृत, कुमारतत्र और कौमारभृत्य आदि। परन्तु 'काश्यपसंहिता' कौमारभृत्यतन्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें ऐसे विषय भी प्राप्त होते हैं जो अन्य संहिताओं में नहीं प्राप्त

होते हैं।

इसका वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार से कह सकते हैं-

दन्तजन्माध्याय- दाँतों के बारे में

स्वेदाध्याय- स्वेदन के बारे में

लक्षणाध्याय- सामुद्रिक लक्षणों के बारे में

वेदनाध्याय- वाणी के बारे में

रेवतीकल्पाध्याय- जातहारिणी ग्रह का वर्णन।

इसमें आचार एवं अपने-अपने कर्तव्य का पालन न करने वाले को जातहारिणी ग्रह ग्रहण कर लेता है। इसलिए इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने कर्तव्य का निष्ठा और ईमानदारी से पालन करने की बात कही है। अन्नप्राशन में छठे मास में फलों का रस और बारहवें मास में अन्न देने की बात को बताया है। बालकों का वस्तिकर्म करते समय सावधानी की बात कही है, अत्यधिक छोटे बालकों को तीक्ष्ण औषधि नहीं देनी चाहिए।

4.6 अगदतन्त्र (Toxicology)

अगदतन्त्र को अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न संज्ञा दी गई है यथा-चरक ने विषगरवैरोधिकप्रशमन, अष्यङ्गहृदय और अष्यङ्गसंग्रह में 'दंष्ट्राचिकित्सा' आदि।

'अगदतन्त्रं नाम-सर्पकीटलूतमूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध- विषसंयोगोपशमनार्थं च'। सु०सू० 1.6

सर्प, कीट, लूता आदि से डंसे हुए, विभिन्न प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रस्त मानवों की चिकित्सा करने वाला अंग को अगदतन्त्र या विषतन्त्र कहते हैं।

अथर्ववेद में मन्त्र चिकित्सा द्वारा नस-नाडियों में पहुँचे हुए विषय को दूर करने का वर्णन मिलता है। इसमें विषनाशक औषधियों के भी उद्धरण प्राप्त होते सुश्रुत के 'कल्पस्थान (अध्याय-1) में 'अन्नरक्षा' का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन काल से ही राजाओं और सम्पन्न व्यक्ति का जीवन बहुमूल्य होता है शत्रु और दुष्टजन विष का प्रयोग कर उनकी हत्या करने की युक्ति बनाते रहते हैं। इसलिए राजा अपने पास अतिविश्वसनीय, कुलीन और धार्मिक वैद्य को रखता था। जल, वायु आदि को भी विष से दूषित करके शत्रु को नुकसान पहुँचाया जाता था। इनकी शुद्धता के लिए 'अगद' विषहर औषधि का धूपन करने का विधान था।

'सुश्रुत' में हत्या के लिए विषकन्या का प्रयोग भी मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दरी कन्या के अधरों, स्तनों आदि पर विष का लेप कर देते थे और शत्रु के पास भेजा जाता था। सुश्रुत ने स्थावर एवं जंगम विषों का विस्तृत वर्णन है। अप्यङ्गहृदय का कथन है कि विष तीन प्रकार के होते हैं। फल-फूल आदि कन्दों में होने वाला विष स्थावर विष है। दूसरा कालकूट, हलाहल आदि। सर्प, बिच्छू मकड़ी आदि की दाढ़ों में रहने वाला विषय जङ्गम विष है। अष्टाङ्ग में कहा है कि विषों में और विष की सभी अवस्थाओं में घी (गाय का घी) के समान लाभकारी कोई औषधि नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि विष का प्रभाव होने पर अधिक से अधिक गाय का घी उस रोगी को पिलाया जाय। घी विष के प्रभाव को शान्त कर देता है। आयुर्वेद का यह अंग अत्यधिक विशद् है। इस पर अध्ययन और अनुसंधान हुए हैं, जहाँ प्राणिजगत् है वहाँ विषचिकित्सकों की आवश्यकता और महत्त्व बना हुआ है। अचानक अग्निदाह, विष खा लेने, फांसी लगा लेने, जल में डूबने, गला दबाने आदि की समीक्षा न्यायिक रूप से की जाती है यह न्यायवैद्यक या व्यवहारायुर्वेद नामक एक उपाङ्ग अगदतन्त्र में जुड़ गया है। अल्पमृतक की परीक्षा की जाती है। कानून के विभिन्न पहलुओं से उसकी जाँच की जाती है।

ग्रन्थ:- काश्यपसंहिता, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अगदतन्त्र, विषचिकित्सा, प्राप्त होता है।

4.7 रसायनतन्त्र (Rejuvenation and Geriatrics)

रसायन रस और अयन शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है रस-रक्तादि धातुओं से पोषण के साधन । इसे रसायन या जराचिकित्सा भी कहा जाता है। चिरकाल तक वृद्धावस्था के लक्षणों से बचाते हुए उत्तम स्वास्थ्य, बल, पौरुष एवं दीर्घायु एवं वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न हुए विकारों को दूर करने के उपाय इस तन्त्र में वर्णित हैं-

रसायनतंत्र नाम वयः स्थापनमायुमेधाबलकरं रोगापहरण समर्थ च। सु.सू. 117

अष्टाङ्गहृदय में रसायन और इसके गुण इस प्रकार बताये हैं - रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, शरीर इन्द्रिय में बल, वाक-सिद्धि, वीर्य की अधिकता और कान्ति प्राप्त करता है। जिससे श्रेष्ठ रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है। रसायन औषधों का केवल स्वास्थ्यवर्धन में प्रयोग नहीं होता परन्तु इसके द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। इसका प्रयोग करने से क्षमता (Immunity) या रोगप्रतिरोधकता (Resistance) बढ़ती है। रसायन के प्रयोग द्वारा च्यवन ऋषि पुनः युवावस्था को प्राप्त हुए- 'अस्य प्रयोगाच्च्यवन सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा' रसायन वह है जो वृद्धावस्था को दूर कर युवावस्था लाए और रोगों का दूर करे - 'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्' सत्यभाषण, अक्रोध, आत्मचिन्तन, शान्तचित्तता और सत्कर्म ये गुण स्वयं में रसायन हैं ऐसा अष्टाङ्गहृदय में कहा है मेधा वृद्धि के लिए ये चार रसायन बताए हैं-

1. भूख के अनुसार मण्डूकपर्णी का रस पिये।
2. मुलहठी के चूर्ण को दूध से पिएं।
3. गिलोय का रस पिये।
4. मूल और फूल के साथ शंखपुष्पी का रस पिये।

रसायन के प्रयोगों में च्यवनप्राश अत्यधिक प्रसिद्ध है। रसायन के प्रभाव निम्नवत् हैं-

1. पोषक तत्व के रूप में - (Nutrition) जैसे खजूर, शतावरी और घी-दूध।
2. अग्निवर्धक- (Digestion and Metabolism) पिप्पली आदि
3. स्रोतोशोधक रसायन - (Micro-circulation) जैसे -कस्तूरी रसोन और गुग्गुलु आदि।

रसायन के लक्षण के अनुसार आधुनिक दृष्टि से तीन पक्षों का समावेश होता है-

1. रक्तादिधातुगतपरिवर्तन- धातुवृद्धिजनक
2. व्याधिक्षमत्वगतपरिवर्तन - व्याधि प्रतिषेधक या व्याधिनिवारक
3. अन्तः स्राव (हार्मोन) गतपरिवर्तन - शक्तिदायक

ग्रन्थ:- सभी संहिताओं में रसायन का प्रकरण मिलता है। चरक और सुश्रुत ने दिव्य औषधियों का इस कार्य में प्रयोग किया है। ऋग्वेद में जो सोम का वर्णन है। वही आगे चलकर रसायन का प्रतीक बन गया।

अथर्ववेद में सूर्यकिरणों को आयुदाता और रसायन औषधि कहा गया है। जल को भी रसायन, अमृत, भेषज कहा गया है। जीवन्ती औषधि रसायन है यह जीवनी शक्ति देने वाली और जीवन रक्षक है। भावप्रकाश में भी इसे रसायन, त्रिदोषनाशक, शक्तिवर्धक और नेत्रों के लिए हितकारी कहा गया है। अष्टाङ्गहृदय में शिलाजतु (शिलाजीत) को सभी रोगों की चिकित्सा बताया है। रसायनतन्त्र के उपलब्ध ग्रन्थ हैं- चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, रसायन खण्ड, रसायनतन्त्र, रसायन दर्शन आदि।

4.8 वाजीकरणतन्त्र (Virilification, Science of Aphrodisiac and Sexology)

इसे वृषचिकित्सा भी कहते हैं। शुक्ररहित को शुक्रयुक्त बनाने की विधि को वाजीकरण कहते हैं। इस चिकित्सा के द्वारा वीर्यहीन को भी वीर्यवान बनाया जाता है। वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य अतः जिसके पास शुक्र है वह वाजी है 'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी' और जिसके पास शुक्र नहीं है वह अवाजी है जिस क्रिया से अवाजी को वाजी बनाया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं :- "अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरण।"

शुक्रधातु की उत्पत्ति, पुष्टता एवं उसमें उत्पन्न दोषों एवं उसके क्षय, वृद्धि आदि कारणों से उत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा आदि विषयों के साथ उत्तम स्वस्थ सन्तानोत्पत्ति संबन्धी ज्ञान का वर्णन इसके अन्तर्गत आते हैं-

वाजीकरणतंत्र नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचय- जनननिमित्तं प्रहर्ष जननार्थं च (सु.सू. 1/8)

अष्टाङ्गहृदय का कथन है कि ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम रसायन और वाजीकरण औषधि है। चरक का भी कथन है कि "ब्रह्मचर्यम् आयुष्कराणां श्रेष्ठतमम्" ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम जीवनी शक्ति है। अथर्ववेद में वृषा औषधि को वाजीकरण बताया है। वैद्यक शब्दसिन्धु में कपिकच्छु (केवांच, कौंच, कवाछु) को वृषा कहा है। भावप्रकाश निघण्टु में केवांच के बीजों की खीर बनाकर खाने से शुक्रक्षीणता रोग नष्ट होने का वर्णन है। अथर्ववेद में अर्क (आक, मदार) को वाजीकरण बताया है।

ग्रन्थ:- वाजीकरण के अनेक प्रसंग वेदों में प्राप्त होते हैं। परवर्ती ग्रन्थों में औपनैषदिक (रहस्यात्मक) प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिये हैं। यौन जीवन को प्रशस्त बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का उद्देश्य है। कुचमारतन्त्र, अनंगरंग, कामसूत्र और पञ्चसायक आदि इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चरकसंहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टाङ्गहृदय आदि भी इसके सन्दर्भ ग्रन्थों में आते हैं। इस प्रकार संक्षेप और सरल रूप में अष्टाङ्ग को समझाने का प्रयास किया गया है।

Lecture by Ritu Mishra

Semester -5

Department of sanskrit

Shivaji college